विशेष

हुए हम जिनके लिए बर्बाद

अल्पना सिंह

अल्पना सिंह युवा कथाकार हैं। हिन्दी साहित्य में उनकी विशेष रुचि है। वर्तमान में हिन्दी विभाग, एस. बी. डी. गर्ल्स कॉलेज, धामपुर, बिजनौर, उत्तर प्रदेश में सहायक प्राध्यापक के पद पर कार्यरत हैं।

उम्र गुज़रती जाती है लेकिन कुछ स्मृतियाँ शिद्दत से और भी गहरे रंगों के साथ मन पर तारी रहती हैं। बचपन में जहां रहती थी वहाँ आस-पास कोई बेहतरीन तो क्या, खराब कही जाने वाली भी किताब की दुकान नही हुआ करती थी। कहानी और उपन्यास तो बस हिंदी के कोर्स वाला ही सहज सुलभ होता था।

चूँकि बचपन एक महाविद्यालय के कैम्पस में बीता जहाँ एक चपरासी के दो लड़के थे। (अगर ठीक नाम याद आ रहा है तो चपरासी का नाम भगवती या भगौती था और लड़कों के नाम बल्लू और पोपू)। एक लड़का बिजली का मिस्त्री था और दूसरा अपने दो कमरे के सरकारी क्वार्टर के बाहर छोटी सी दुकान लगाता था। जहाँ वह किताब किराए से दिया करते थे। उनका किताबें रखने का तरीका भी अजब हुआ करता था। वह दो खम्भों से सुतली बाँध दिया करते थे और उसमें किताबें इस तरह आधी इधर और आधी उधर करके लटकाते थे जिस तरह कपडे सुखाने के लिए डाले जाते हैं। नागराज की सीरीज़ से लेकर डायजेस्ट तक, सुपर कमांडर ध्रुव, परमाणु डोगा के साथ ही सबसे विशेष चाचा चौधरी और साबू, पिंकी, बांकेलाल, मोटू-पतलू, राम-रहीम आदि तमाम पात्रों से दोस्ती का सिलसिला वहीं से शुरू हुआ। उनके पास कॉमिक्स का जखीरा होता था। डायमंड और राज कॉमिक्स का बोल बाला था। 25 पैसे से पतली कॉमिक्स, 50 पैसे किराए में थोड़ी मोटी और 1 से 2 रुपये किराए में डाइजेस्ट एक या दो दिन के लिए मिल जाती थी जो खत्म तो उसी दिन रात तक हो जाया करती थी। बिना स्मृतियों पर ज़ोर डाले साफ-साफ याद है कि उनके दर्जनों गत्ते के ढ़ेर में कोई ऐसी कॉमिक्स या किताब नहीं बची होगी जो हाथ से न गुज़री हो।

उनके पास सस्ता साहित्य भी शायद रहा हो लेकिन वो मुझे उनसे मिला नहीं। वह चस्का तो किसी और की संगत से लगा। जिसकी पूर्ति हमें रेलवे स्टेशन से बुक

स्टॉल से होती। रद्दी और भद्दे मोटे-मोटे पेज वाले लुगदी साहित्य रिवाल्वर, अब नहीं छोड़ूंगा तुम्हें, ये आग कब बुझेगी, वर्दी वाला गुंडा जैसे उपन्यासों के नाम के साथ ही हिन्द पॉकेट बुक्स आज तक ज़हन में हैं। दशकों बीत गए रानू, शानू, वेद प्रकाश, सुरेन्द्र मोहन पाठक, कुशवाहा कान्त, गुलशन नंदा आदि तमाम नाम है। आज भी याद है कि गोर्की का माँ किराए से लेकर पढ़ी, टॉलस्टॉय, डिकन्स ये सब किसी दूसरे दोस्त से लेकर पढ़ी थी तो काफ्का की अदालत एक तीसरे बहुत अच्छे दोस्त से लेकर पढ़ी थी। पुस्तक की अपनी प्रतियाँ तो जीवन के कुछ-कुछ पटरी पर आने के क्रम में बहुत बाद में इकट्ठी की गईं। क्योंकि अपनी प्रति के साथ होने से बढ़कर और सुख कहाँ है। पढ़ने की लत की बात चलती है तो जिन्दगी की तमाम छोटी बड़ी घटनाएँ एक-एक कर सामने आती चली जाती हैं। एक और किस्सा याद आता है। ये उन दिनों की बात है जब ट्रेन लेट होना कोई विशेष समस्या नहीं हुआ करती थी, ट्रेन के दो घंटे देरी से आने की सूचना घोषित होते-होते स्टेशन पर गहमा-गहमी ठंडी पड़ने लगती। मेरा यह समय बुक स्टाल पर किसी किताब/पत्रिका या अखबार के पन्ने पलटने में बीतता था। ट्रेन प्लेटफार्म पर लगने की सूचना से जहाँ बच्चे उछल कूद कर ख़ुशी मनाते और बड़ों की आँखे चौड़ी हो जाया करती। वहीं बुक स्टाल पर खड़े-खड़े मेरा तटस्थ मन अजीब उदासी से घिर जाता। अजीब सी मायूसी छा जाती।

> हिंदुस्तान अखबार में हफ्ते में एक बार आने वाली टिप्पणी ने खुशवंत सिंह से, दैनिक जागरण ने इमरजेंसी के दिनों का तथ्यात्मक वर्णन से कुलदीप नैयर, हंस के शब्दबेधी शब्दभेदी कॉलम ने तसलीमा नसरीन से बहुत कम उम्र में ही परिचय करा दिया। इन सबकी ट्रेन टू पाकिस्तान, दिल्ली, लज्जा, उत्ताल हवा, मेरा बचपन आदि तो बहुत बाद में पढ़ा। अपना चाहा हुआ कौन पाता है। अगर किसी को चाहा हुआ मिलता भी है तो बहुत ही अनचाहे तरीके से ही मिलता है।

जीवन में बहुत कुछ विलोम ही रहा। लोगों के आगे बढ़ने का क्रम बहुधा नीचे से ऊपर की ओर अग्रसर होता देखा जाता है। मेरे साथ यह उलटा रहा। इसी क्रम में लखीमपुर खीरी से सीतापुर आना-जाना रोजमर्रा का नियम सा बन गया था। उन्हीं दिनों जीवन में पहली बार जाना कि एम.एस.टी. क्या होती है? और इसका क्या महत्व होता है। बड़ा विस्मय सा हुआ था यह जान कर कि ऐसा भी कुछ सम्भव है कि एक ही बार में महीने भर के टिकट का इंतजाम किया जा सकता है, वह भी आने-जाने, मतलब दोनों तरफ का। मतलब रोज लाइन में लग कर धक्के नहीं खाना, मतलब रोज की 'टूटे पैसे नहीं हैं' की किल्लत से बचना। यह भी एक सुख था। अब सोचती हूँ तो लगता है कि तब सुख की परिभाषा कितनी अलग हुआ करती थी।

ऐसे ही ट्रेन लेट होने के किसी दिन सीतापुर स्टेशन के बुक स्टाल पर किसी पत्रिका के विशेषांक के पन्ने पलटते हुएनजर सामने पड़ी। मैं चौंक गयी, रद्दी कागज पर छपा सस्ता साहित्य, जो मोटे-मोटे ग्रन्थ की दिखता था और जिससे बुक स्टाल भरे रहते थे (छोटे स्टेशन पर आज भी होते हैं) वहीं विश्व साहित्य के कोने में डी.एच.लॉरेंस का 'लेडी चैटर्ली का प्रेमी' रखी थी। हिंदी में यह शीर्षक देख विस्मय और भी बढ़ गया। चूँकि लखनऊ विश्वविद्यालय में एम् फिल करने के दौरान मनोवैज्ञानिक अध्ययन के संदर्भ में प्रो. एस.डी. मिश्रा सर के मुंह से इसका नाम बार-बार सुना था। अपनी कक्षाओं में उन्होंने अन्य विषय और विषयेतर किताबों के साथ कुछ उपन्यास, कहानियां, कविताएं भी विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए सुझाई थीं। तब उनके मुंह से टॉलस्टॉय की वॉर एंड पीस, डी.एच.लोरेंस की लेडी चैटर्लीज़ लवर, संस एंड लवर्स जैसे अनगिनत नाम सुन कर लगा था कि यह सब तो अंग्रेजी में ही होगा, जो पढ़ने के लिए तो पढ़ जाऊँगी पर मूल आत्मा तो क्या ही समझ आएगी। फिर ऊपर से हज़ार समस्याएं और कि ये मिलेगी कहाँ ? कितने की मिलेगी ? उस समय तो इतने पैसे भी नहीं हुआ करते थे। वैसे भी जीवन में हमें जब जो चाहिए तब वो नहीं मिलता और जब मिलता है तब तक चित्र बहुत कुछ बदल चुके होते हैं।

चूँकि रोज़-रोज़ आते-जाते मेरा बहुत समय स्टेशन के बुक स्टॉल पर ही बीतता था। इसलिए बुक सेलर जो कुछ उम्रदराज़ थे, से अच्छी पहचान हो गयी थी। मेरा रोज पत्रिकाओं का उलटना-पलटना, किताबों को उठा, उलट-पलट कर रख देना.., यह सब हरकते सहने की उन्हें आदत हो गयी थी। हिंदी में 'लेडी चैटर्लीज़ लवर' लिखा देखते ही बिना समय गंवाएं उनसे पुस्तक उतारने के लिए कहा। उन्होंने अलमारी से पुस्तक उठाये बिना ही गंभीर लहजे में बता दिया कि ये किताब महंगी है। उन दिनों मैं खरीदती कम और पढ़ती ज्यादा थी। वो यह जानते थे कि मै किताब उलट पलट कर वापस कर दूंगी। लेकिन उस समय तो पुस्तक को तत्काल हाथ में लेने की मेरी बेचैनी बढ़ती जा रही थी। उन्होंने कहा की अगर लेना होगा तभी किताब उतारेंगे। उस समय तो मुझे लगा की यह ब्रह्माण्ड की अंतिम प्रति है और अगर आज यह न

मिली तो फिर कभी नहीं मिलेगी। इसलिए यह कितनी भी महंगी हो तुरंत ले ली जानी चाहिए चाहे इसके लिए कुछ सिद्धांतो की बलि भी चढ़ानी पड़े तो भी सौदा महंगा नहीं होगा। (काशीनाथ ने काशी का अस्सी में कहीं पर लिखा है कि- सिद्धांत सोने का गहना है, रोज़-रोज पहनने की चीज़ नहीं। शादी-ब्याह, तीज-त्यौहार में पहन लिया बस। सिद्धांत कि बात साल में एक-आध बार कर ली, कर ली। बाक़ी अपनी पोलिटिक्स करो।') मैंने सोचा दुर्लभ चीज के लिए साथ की लड़कियों से कुछ उधार लिया जा सकता है और लिया भी। बात यहाँ खत्म नहीं हुई।

बुक सेलर से कह दिया- 'लेकर ही जाउंगी।' उन्होंने किताब उतारने से पहले झट से एक पुराना अख़बार उठाया और बाज़ की गति से पुस्तक उतार कर उसमें लपेटकर मुझे पकड़ा दी। किताब इस तरह प्राप्त करने का यह पहला अनुभव था। मैंने ज्यों ही खोलने का उपक्रम किया उन्होंने अपनत्व से बरज़ दिया। अपने आपको व्यस्त सा दिखाते और नज़रे चुराते हुए कहा की 'ट्रेन आ रही होगी, घर जाकर पढ़ना।' आज भी वह पूरा घटनाक्रम आँखों के सामने है। एक कॉलेज यूनिफ़ॉर्म पहने भीड़ के बीच से निकल कर, धक्के खाकर आती साधारण सी लड़की को चैटर्लीज़ देना उन्हें बहुत अच्छा नहीं लगा। यह तो पढ़ने के बाद पता चला कि यह उपन्यास अश्लील साहित्य में आता है जिस पर कुछ समय के लिए प्रतिबंध भी था।

यह प्रसंग आते ही एक और घटना याद आती है। आदिवासी विमर्श की चर्चा नई-नई चल निकली थी। शोध भले ही पूरा हो गया था पर रिसर्च पेपर जैसा कुछ लिखना ठीक तरह से समझ नहीं आया था (ये अलग बात है कि नियम और शर्तों के तहत तो अब भी लिखना नहीं आया)। लखनऊ के किसी मित्र ने आदिवासी उपन्यासों पर कुछ लिखने के लिए कहा। चूँकि शहर में साहित्यिक पत्रिकाओं और नई किताबों की कोई अच्छी व्यवस्था न होने से बहुत कुछ समय-बेसमय उपलब्ध नहीं हो पाता था। लखीमपुर स्टेशन पर जो बुक स्टॉल था वहां कभी-कभी एक अंकल बैठते कभी-कभी उनका लड़का। तो जिस दिन अंकल बैठते उस दिन मेरा बहुत समय वहाँ बीतता क्योंकि अन्य दिनों में दूकान जाने से भी साथ की लड़कियां कनखियों से देखने लगती थीं। उन्हीं दिनों कथाक्रम का आदिवासी विशेषांक आया था। मूल्य शायद 50 रूपये था (स्मृति से)। ठीक से याद है कि उस दिन मेरे बैग में मात्र 18 रूपये थे। चूँकि टिकट की चिंता नहीं थी एम.एस.टी. सभी के पास थी। अब चूँकि पुस्तकों के मामले में मैंने भी सिद्धांतो को सोने का गहना मान कर तिजोरी में रख दिया था इसलिए फिर से साथ जाने वाली लड़कियों से उधार स्वरूप चंदा इकट्ठा किया और वह विशेषांक लेकर गर्व से वीर भारत तलवार का मीणा से साक्षात्कार और रोहिणी अग्रवाल का दिकू समाज और आदिवासी पढ़ते हुए सीतापुर गयी।

हिंदुस्तान अखबार में हफ्ते में एक बार आने वाली टिप्पणी ने खुशवंत सिंह से, दैनिक जागरण ने इमरजेंसी के दिनों का तथ्यात्मक वर्णन से कुलदीप नैयर, हंस के शब्दबेधी शब्दभेदी कॉलम ने तसलीमा नसरीन से बहुत कम उम्र में ही परिचय करा दिया। इन सबकी ट्रेन टू पाकिस्तान, दिल्ली, लज्जा, उत्ताल हवा, मेरा बचपन आदि तो बहुत बाद में पढ़ा। अपना चाहा हुआ कौन पाता है। अगर किसी को चाहा हुआ मिलता भी है तो बहुत ही अनचाहे तरीके से ही मिलता है।

कहीं पढ़ा था कि किताबें आदमी को बर्बाद करके छोडती हैं। मैं बर्बाद हुई या कि आबाद, इसका तो पता नहीं, जो भी हुई बेहतर ही हुई।